बौद्ध एवं जैनधर्म के विचार में तुलना

कुमारी सरोज[1] (डॉ0) पारसनाथ प्रसाद[2]

1. शोधप्रज्ञ, दर्शनशास्त्र विभाग, जयप्रकाश विश्वविद्यालय, छपरा सारण, बिहार।
2. सेवानिवृत, रीडर, (दर्शनशास्त्र विभाग) रामजयपाल महाविद्यालय, छपरा सारण, बिहार।

सारांश

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया जाय तो जैन धर्म बौद्ध धर्म की अपेक्षा प्राचीन है। क्योंकि तीर्थंकर महावीर एक पूर्व भी जैन परंपरा में 23 तीर्थंकर हो गये हैं। जिनमें ऋषभदेव, नेमीनाथ, पार्श्वनाथ आदि तीर्थकरों के पुष्ट प्रमाण भी होते है बौद्ध धर्म सौत्रान्तिक, वैभाषिक, माध्यमिक एवं योगाचार सम्प्रदायों में विभक्त होकर विकसित हुआ हैं जैन धर्म दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त होकर विकसित हुआ है किन्तु बौद्ध दर्शन की विभिन्न सम्प्रदायों में तत्वमीमांसीय मान्यताओं में प्राप्त मतभेद दृग्गोचर होता है, ऐसा कोई तत्ववीमांसीय भेद जैन दर्शन की सम्प्रदायों में दिखाई नहीं देता है जैन दर्शन के दोनों सम्प्रदाय वस्तु को द्रवपर्यायात्मक स्वीकार करते हैं तथा उसका बाह्य आस्त्तिव मानते हैं जबकि बौद्ध दर्शन में विज्ञानवाद के मत में वस्तु का बाह आस्त्तिव ही मान्य नहीं है। वह विज्ञान को सत्य स्वीकार करता है। सौत्रान्तिक एवं वैभाषिकमत में बाह्य वस्तु का आस्त्तिव तोस्वीकृत है, किन्तु वे उसे क्षणिक मानते हैं माध्यमिकमत में वस्तु प्रतीत्यसमुत्पन्न होने से निःस्वभाव है तथा सत् असत् सदसत् एवं न सत् न असत्त इन चारों कोटियों से विनिर्मुक्त है।

भूमिका

बौद्धधर्म एक मनोवैज्ञानिक धर्म है। मनोविज्ञान की आधारशिला पर वह प्राणी–जगत् को कम्मदायाद, कमस्सक, कर्मयोनि और कम्मपटिसरण कहता है। भगवान् बुद्ध के इन बचनों में बौद्धधर्म का सार निहित है। बौद्धधर्म की यह कर्म–वादिता उसकी बुद्धिवादित का परिणाम है। बौद्ध–विचारकों ने भी क्रिया के अर्थ में ही कर्म शब्द का प्रयोग किया है। वहाँ भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाओं को कर्म कहा गया है, जो अपनी नैतिक शुभाशुभ प्रकृति के अनुसार कुशल अथवा अकुशल कर्म कहे जाते हैं भगवान् बुद्ध ने कर्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक रूप में किया है। उसे वह चेतना का पर्यायवाची मानते थे। यह बात उनकी निम्नलिखित उक्ति से प्रकट है: चेतना ही भिक्षुओं का कर्म है मैं ऐसा कहता हूँ चेतनापूर्वक कर्म किया जाता है, काया से, वाणी से और मन से। यहाँ पर चेतना के कर्म कहने का अर्थ है कि चेतना के होने पर ही समस्तक्रियाएँ संभव है। बौद्धदर्शन में चेतना को ही कर्म कहा गया है।

कर्म मूलतः दो प्रकार के होते है – चेतना का कर्म और चेतयित्वा कर्म अथवा चेतसिक कर्म, काय और वचन से उत्पन्न होने के कारण कायिंक और वाचिक कर्म कहते जाते है इस प्रकार कर्म शब्द क्रिया के अर्थ में प्रयुक्त होता है। कर्म शब्द में शारीरिक और मानसिक और वाचिक क्रियाओं का निर्धारण और उन भवी क्रियाओं के कारण उत्पन्न होने वाली अनुभूती सभी समाविष्ट हो जाती है। आचार्य नरेन्द्रदेव ने लिखा है, केवल चेतना और कर्म ही सकल कर्म नहीं है। कर्म के परिणाम का भी विचार करना होगा। इससे एक अपूर्व कर्म, एक अविज्ञाप्ति होती है।

बौद्ध–दर्शन कर्म के चैत्तसिक पक्ष को ही स्वीकार करता है और यह मानता है कि बन्धन के कारण अविद्या, वासना, तृष्णा आदि चैत्तसिक तत्व ही है। यदि ऐसा नहीं तो मानना पड़ेगा कि काय, वाक् और मन–ये तीन कर्मद्वार है। सभी कर्म इन्हीं द्वारों से सम्भूत है एवं मन का सम्बन्ध सभी के साथ

है। कहा गया है सारी अवस्थाओं का मन अगुवा है, मन प्रधान है और सारे कर्म मनोमय है। जब अपना मन बुरा या भला होता है तब कायिक और वाचिक कृत भी उसके मुताबिक बुरे या भले होते है। बुद्धदेव ने इन्हें चार प्रकार से विभाजित किया हैः 1. कृत्य के अनुसार 2. विपाक देने के पर्याय से, 3. विपाक के काल के अनुसार 4. विपाक के स्थान के अनुसार।

कर्मविपाक के सम्बन्ध में बौद्ध और जैन–दृष्टिकोण : कर्म और विपाक की परंमरा से यह संसार चक्र परिवर्तित होता रहता है। भगवान् बुद्ध कहते है कर्म से विपाक प्रवर्तित होते रहते है और विपाक से कर्म उत्पन्न होता है। कर्म से पुनर्जन्म होता है औ इस प्रकार यह संसार परिवर्तित होता है। कहा गया है कि कर्म और विपाक के प्रवर्तित होने पर वृक्ष बीज के समान किसी का पूर्व छोर नहीं जान पड़ता है। बौद्ध–दार्शिनिकों के अनुसार जैसे बीज के भुन जाने पर उस बीच की दुष्टि से बीज–वृक्ष की पंरपरा समाप्त हो जाती है। वैसे ही व्यक्ति के राग, द्वेष और मोह के प्रहाण हो जाने पर व्यक्ति की कर्मविपाक परंमरा का अन्त हो जाता है। जैन–दार्शनिकों के अनुसार भी राग–द्वेषरूपी कर्म–बीज भुन जाने पर कर्म–प्रवाह की परंपरा समाप्त हो जाती है।

अब प्रश्न उठता है कि क्या एक व्यक्ति अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मो का फल दूसरे व्यक्ति को दे सकता है ? क्या व्यक्ति अपने किये हुए शुभाशुभ अपने कर्म का ही भोग करता अथवा दूसरों के द्वारा किये हुए शुभाशुभ का फल भी उसे मिलता है ? इस संदर्भ में दोनों दर्शनों के दृष्टिकोण पर विचार कर लेना आवश्यक है। बौद्ध–दुष्टिकोण से सम्बन्ध में आचार्य नरेन्द्र देव लिखते हैं सामान्य नियम यह है कि कर्म स्वीकार्य है जो कर्म करता है वही उसका फल भोगता है। किन्तु निकाय में भी पुण्य परिणामना है। वह यह भी मानता है कि मृत की सहायता हो सकती है। स्थायी वादी प्रेत और देवों को दक्षिण देते है अर्थात भिक्षुओं को दिये हुए दान से जो पुण्य संचित होता है। उसको देते है बौद्धों के अनुसार हम अपने पुण्य में दूसरों को सम्मिलित कर सकते है पाप में नहीं। इस प्रकार बौद्ध–विचारणा कुशल कर्मो के फल–संविभाग

को स्वीकार करते है। जैन–विचारणा के अनुसार प्राणी के शुभाशुभ कर्मो के प्रतिफल में कोई भागीदार नहीं बन सकता है। जो व्यक्ति शुभाशुभ कर्म करता है वही उसका फल प्राप्त करता है। रसायनसूत्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि संसारी जीव स्व एवं पर के लिए जो साधारण कर्म करता है उस कर्म के फलभोग के समय बन्धु–बान्धव हिस्सा नहीं लेते । इसी ग्रंथ में प्राणी की आनाथता का निर्णय करते हुए बताया गया है कि न तो माता पिता और पुत्र–पौत्रादि ही प्राणि का हिताहित करने में स्वार्थ है इस प्रकार उत्तराध्यनसूत्र में कर्म फल–संविभाग को अस्वीकार किया गया है। इस प्रकार बौद्ध–विचारक न केवल कर्मों के विपाक में नियतता और अनियतता को स्वीकार करते है वरन् दोनों की विस्तृत व्यायख्या भी करते है। वे यह भी बताते है कि कौन कर्म नियम विपाकी होगा। प्रथमतः वे कर्म जो केवल कृत नहीं है किन्तु उपचित भी है नियम विपाक कर्म है। दूसरे वे कर्म जो तीव्र प्रसाद, श्रद्ध और तीव्र क्लेश, राग–द्वेष किये जाते है। नियत विपाक कर्म है। बौद्ध–दर्शन की यह धारणा जैन–दर्शन से बहुत कुछ मिलती जुलती है अन्तर यही है कि जहाँ बौद्ध–दर्शन तीव्र श्रद्धा और तीव्र राग–द्वेष दोनो अवस्था में होनेवाले कर्म को नियत विपाकी मानता है वही जैन–दर्शन मात्र राग–द्वेष, कषय की अवस्था में किये हुए कर्मो को ही नियम विपाकी मानता है। दोनो इस बात से सहमत है कि मातृवध, पितृवध तथा धर्म, संग और तीर्थ धर्मप्रवर्त्तक के प्रति किये गये अपराध नियत विपाकी होते हैं।

कर्मवाद के दार्शनिक और नैतिक पक्ष के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध उसके सामाजिक पक्ष में भी विश्वास करते थे। सामाजिक क्षेत्र में यह जन्मजाति वर्णव्यवस्था में बिल्कुल विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि कोई भी वर्णव्यवस्था जन्म के आधार पर स्थापित नहीं की जा सकती है। बुद्धोपदिष्ट शुद्धि का आधार कर्म ही है। चाहे शूद्र हो या अन्य कोई प्राणी यदि वह स्मृतिप्रस्थान आदि की भावना करता है तो निर्वाण का साक्षात्कार करता है। कर्म मनुष्य में भेद नहीं करता है। पुण्य कर्म से आयु की वुद्धि होती है और बत्तीस

महापुरूष–लक्षण भी मनुष्य पूर्वजन्म के किये कर्मो के परिणामस्वरूप पाता है। कहने का अर्थ है कि विश्व की व्यवस्था में कर्म ही प्रधान है। इसलिए मनुष्य को अधिक से अधिक शुभकार्य करना चाहिए। इसलिए भगवान बुद्ध ने कर्म प्रतिशरण बनने का उपदेश दिया था। वे बुद्धशरणम् और कर्मशरणम् में कोई भेद नहीं मानते थे। उनका कहना था जिसका कर्म अच्छा है वह बुद्ध के समीप है, चाहे वह उनसे सौ योजन की दूरी पर हो। इस प्रकार हम देखते है कि कर्मवाद का सिद्धान्त बौद्धधर्म की आधारशिला है।

जैन–दर्शन में कर्म शब्द के अनेक अर्थ माने गये है। साधारणतः कर्म शब्द का अर्थ क्रिया से होता है अर्थात् जो किया जाता है, वह कर्म है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि जीव के राग–द्वेषरूप परिणामों के निमित से जो रूपी अचेतन द्रव्य जीव के साथ सम्बद्ध होकर संसार में भ्रमण कराते है। कर्म है। कर्म के बीज राग और द्वेष है, कर्म मोह से उत्पन्न होता है कर्म जन्म–मरण का मूल है और जन्म–मरण की दुःख है। यह जीव द्वारा किये जाने के कारण कर्म कहलाता है। कर्म जब आत्मा के साथ बन्ध को प्राप्त होते है तो मुख्य रूप से आठ रूपों में परिवर्तित हो जाते है जिन्हें कर्मों के मुख्य प्रकार कह सकते है। आठ मूल कार्यो या कर्म–प्रकृतियों के नाम क्रमशः इस प्रकार है। 1– ज्ञज्ञनावरणीय, 2 दर्शनावरणीय, 3 वेदनीय, 4 मोहनीय, 5 आयु, 6 नाम 7 गोत्र 8 अन्तराय कर्म। इनमें प्रथम चार कर्मों को भारतीय कर्म कहते है, क्योंकि आत्मा के गुणों का घात करते है। शेष चार कर्म अघातीय है, क्योंकि ये आत्मस्वरूप का घात नहीं करते। ग्रंथ में इसी लिए चार घातीय कर्मों के विनष्ट होने पर जीव को जीवन्मुक्त मान लिया गया है। क्योंकि शेष चार अद्यातीय कर्म आयु के पुर्ण होने पर साथ बिना विशेष प्रयत्न के नष्ट हो जाते है। नीचे आठों कर्मों के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है।

1. **ज्ञानावरणीय कर्म –** जिसके द्वारा पदार्थो का स्वरूप जाना जावे उसका नाम ज्ञान है तथा जो कर्म ज्ञान का आच्छादन करनेवाला हो वह ज्ञानावरणीय

कर्म है। ज्ञान पाँच प्रकार का है।1 श्रुतज्ञानावरण, 2 अभिनिबोधिक ज्ञानावरण, 3 अवधिज्ञानावरण, 4 मनःपर्ययज्ञानावरण, 5 केवलज्ञानावरण।

2. **दर्शनावरणीय कर्म –** पदार्थों के सामान्य बोध का नाम दर्शन है। अतः जिस कर्म के द्वारा इस जीवत्मा का सामान्य बोध आवृत हो जावे उसे दर्शनावरणीय कहते है। इस कर्म के भेद गिनाये गये है, जिसमें प्रथम पाँच निद्रा से सम्बन्धित है तथा अन्य चार दर्शन–सम्बन्धी है। 1 निद्रा, 2 निद्रा–निद्रा, 3 प्रचला, 4 प्रचला–प्रचला, 5 सत्यानवृद्धि, 6 चक्षुदर्शनावरण, 7 अचक्षुदर्शनावरण, 8 अवधिदर्शनावरण, 9 केवलदर्शनावरण।
3. **वेदनीय कर्म –** जिस कर्म के द्वारा सुखःदुख का अनुभव किया जाये उसका नाम वेदनीय कर्म है। यह दो प्रकार का है : सातावेदनीय और असातसवेदनीय। इन दोनों के पुनः अनेक भेद है, जिसे ग्रन्थ में गिनाया नहीं गया है। ?
4. मोहनीय कर्म – जिसे कर्म के प्रभाव से जीवात्मा जानती हुई भी मूढ़ता की प्राप्त हो जावे उसको मोहनीय कर्म का नाम से अभिहित किया गया है। इसके प्रमुख दो भेद हैं मोहनीय और चरित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय पुनः तीन प्रकार का है।

   1 सम्यक्तव मोहनीय, 2 मिथ्यात्व मोहनीय, 3 सम्यक्तव मिथ्यात्व मोहनीय ''मिश्र मोहनीय''। सदाचार में मूढ़ता पैछा करनेवाले चरित्र। मोहनीय कम्र के दो भेद बताये गये हैः कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। कषाय मोहनीय के सोलह भेद ग्रन्थ में बजाये गये है। और नोकषाय के सात अथवा नौ भेद है।
5. आयुकर्म : जिसक कर्म के प्रभाव से जीवात्मा अपनी आयु को पूर्ण करे उस कर्म को आयु कर्म कहते है। चार गतियों के आधार से इसके चार भेद किये गये है। निकायु 2 तिर्यगाय, 3 मनुष्यायु और 4 देवायु। यहाँ एक बात विशेष ध्यान रखने की है कि ग्रंथ में सगार्थ चिन्तन का फल बतलाते हुए लिखा है कि इससे जीवन आयुकर्म को छोड़कर शेष सात कर्मों के प्रगाढ़ बंधन को

शिथिल कर देता है। किंच आयुकर्म का बन्ध विकल्प से करता है। इससे स्पष्ट है कि आयकर्म रोक सात कर्मों से कुछ भिन्नता रखता है।

6. **नामकर्म –** शरीर आदि की रचना का हेतु जो कर्म है उसे नामकर्म कहते है। यह दो प्रकार का हैः शुभनाम और अशुभनाम। इस कर्म के प्रभाव से ही जीव को शुभाशुभ शरीर, इन्द्रिय आदि की प्राप्ति होती है।
7. गोत्रकर्म – जिसके द्वारा जीवात्का उँच–नीच कुल में उत्पन्न हो अर्थात् उँच–नीच संज्ञा से सम्बोधित किया जावे उसका नाम गोत्रकर्म है। इसके उच्च और निम्न दो भेद है।
8. अन्तरयकर्म – जो कर्म दान आदिा में विध्न उपस्थित कर देवे उसकी अन्तराय संज्ञा है। कहने का अर्थ यह है कि देनेवाले की इच्छा तो देने की हो और लेनेवाले की इच्छा लेने की हो, परन्तु ऐसी दशा में भी दाता और याचक की इच्छा पूरी न हो, यह जिस कर्म के कारण सम्भव होता है उसे जैन–परिभाषा में अन्तरायकर्म कहा गया है। इसके पाँच भेद ग्रन्थ में गिनाये गये है। यथा दानान्तराय, लाभान्तराय, भोग–अन्तराय उपभोगान्तराय और वीर्यन्तराय।

ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की विभिन्न स्थितियाँ भी बतायी गयी है जो इस प्रकार हैं :

	कर्म	अधिकतम समय	न्यूनतम समय
1	ज्ञानावरणीय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त
2	दर्शनावरणीय	तीस कोटाकोटि	अन्तर्मुहूर्त
3	वेदनीय	तीस कोटाकोटि	अन्तर्मुहूर्त
4	मोहनीय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	बाहरर्तुहूर्त
5	आयु	तीस कोटाकोटि	बाहरर्तुहूर्त
6	गोत्र	तीस कोटाकोटि	बाहरर्तुहूर्त
7	अन्तराय	तीस कोटाकोटि सागरोपम	अन्तर्मुहूर्त

उपर्युक्त स्थितियाँ कर्मों को मूल भेदों की अपेक्षा से ही है। इस स्थिति की सीमा के अन्दर कर्म अपना फल दिखाकर नष्ट हो जाते है और उनके स्थान पर नये–नये कर्म आते रहते है। इस तरह यद्यपि कर्मों का वर्णन पूर्ण हो जाता है परन्तु कर्मों के रूपी होने पर भी उन्हें इन नग्न नेत्रों से देखना संम्भव नहीं है। यह कैसे समझा जाय की अमुक प्रकार के कर्म का बन्ध हुआ है। इसके जिस ग्रन्थ में कर्मलेश्याओं का वर्णन किया गया है। जिसका अर्थ होता है आत्मा के बँधे हुए कर्म के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाला अध्यवसाय–विशेष। लेश्या के वर्णन द्वारा उत्तरायन में व्यक्ति के आचरण के अनुसार शुभाशुभ फल का कथन किया गया है। व्यक्तियों के अच्छे बुरे आचरण को छः भागों में विभक्त करके छह लेश्याओं के स्वरूप का वर्णन किया गया है। क्रमशः उनके नाम हैं :– कृष्ण, नील, कापोट, तेज, पद्य और शुक्ल।

कर्म और लेश्याओं के वर्णन से स्पष्ट है कि दोनों में धनिष्ठ सम्बन्ध है। पुण्यरूप कर्मों से शुभ लेश्याओं की प्राप्ति और पापरूप कर्मों से अशुभ लेश्याओं की प्राप्ति होती है। जैनागम उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा गया है – कम्मुणा बभणोहोइ, कम्मुणा हवइ स्वत्तियों। वइस्सों कम्मुणा होई, सुद्वो हवई कम्मुणा। अर्थात् अपने कर्म या आतरण से ही कोई ब्राह्मण होता है, कर्म से ही कोई क्षत्रिय, वैश्य या शुद्र होता है। आदि पुराणा में समस्त मनुष्यों की एक ही जाति मानी गई है – मनुष्य जाति। इसलिए इन दोनों धर्मो में क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शुद्र समी वर्णो के व्यक्ति दीक्षिज्ञत या प्रवजित हुए है। इन दोनों धर्मो की एक सामानता यह है कि दोनों धर्मो के प्रर्वतक ने अपना उपदेश लोक माषा में दिया है। तीर्थी कर महावीर ने अपना उपदेश अर्धगामी प्राकृत माषा का ही अंग रही है।

बौद्ध परम्परा में जिस प्रकार भगवान बुद्ध प्रश्नों के उत्तर विभज्यवाद शैली में देते है उसी प्रकार तीर्थकर महावीर भी आगमों में विमाज्यवाद की शैली का प्रयोग करते है। विभाज्यवाद शैली में प्रश्नों का उत्तर विभक्त करके दिया जाता है। उदाहरण के लिए भगवान महावीर से जयन्ती श्रविका द्वारा प्रश्न किया गया

कि मुनष्य का सोना अच्छा है या जागना। अधर्मिष्ठ, अधर्म का कथन करने वाले, अधर्म से आजीविका चलाने वाले लोग है। उनका सुप्त रहना अच्छा है तथा जो धार्मिक है धर्मानुसाररी यावत धर्मपूर्वक आजीविका चलाने वाले है उन जीवों का जागना अच्छा है। गौतम बुद्ध भी इसी प्रकार विभाज्यवाद शैली का प्रयोग करते है।

मज्झिम निकाय में शुभ माणवक ने प्रश्न किया प्रवजित आराधक नहीं होता। इसमें आपका क्या मन्तव्य है ? इस प्रश्न का उतर देते है गौतम बुद्ध ने कहा कि गृहस्थ भी यदि मिथ्यात्वी है तो वह निर्वाण मार्ग का आराधक नहीं होता और त्यागी भी यदि मिथ्याव्वी है तो वह भी अराधक नही होता। किन्तु यदि वे दोनों सम्यक प्रतिप्रति सम्पन्न है तो आराधक होते है। गौतम बुद्ध ने इस आधार पर अपने को विमज्यवादी बातया है एकांशावादी नहीं है।

बौद्ध धर्म मे ंमेत्री, करूणा, मुदिता और उपेक्षा नाम से चार ब्रहाविचार का निरूपण हुआ है जैनधर्म में निरूपिमेत्री, प्रमोद, कारूण्य और माध्यस्थ मावनाएॅ बौद्ध धर्म के ब्राहबिहार के साथ सम्न्वयक स्थापित करती हैं प्राणित मात्र के प्रति मैत्रीभाव, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव, दुःखी जीवों के प्रति करूणाभाव एव विपरीत वृति वाले जीवों के प्रति माध्यसथ्य भाव का प्रतिपादन जैन धर्म में हुआ है। वीर सेवा मंदिर के संस्थापक पंडित जुगल किशोर मुख्तार ने इन चार मानवाओं को मेरी भावना में इस प्रकार निबद्ध किया है – मैत्री भाव जगत में मेरा सब जीवों से नित्य रहें। दीन दुःखी जीवों पर मेरे उसे करूणास्त्रोत वहां दर्जन कुअर कुमार्ग रते पर क्षोम नहीं मुझमें आवें। साम्य माव रखूॅ में उनकर ऐसी परिणति हो जावे । गुणी जनों का देख हदय में मेरे उमड़ आव। बने जहॉ तक उनकी सेवा करके यह मन सुख पावे।

बौद्ध दर्शन में दो प्रकार के सत्यों का प्रतिपादन हुआ है – व्यवहार और परमार्थ। बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन इन दोनों की महता अंगीकार करते है। उनका कथन है – व्यवहारमनाश्रित्य परमार्थों ने देश्यते। परमार्थ मनगम्रू निर्वाण नाधिगम्यते।

अर्थात् व्यवहार का आश्रय लिए बिना परामार्श्ज्ञ को नही समझाया जा सकता और परमार्श को जाने बिना निर्वाण को प्राप्त नहीं किया जा सकता । इसलिए व्यवहार और परमार्थ दोनां दुष्टियों का अपना–अपना महत्व है। समयसार ग्रन्थ मे आचार्य कुछ–कुछ भी इसी प्रकार का मन्तव्य रखते ह। उनका कथन है कि जिस प्रकार अनार्य व्यक्ति का अनार्य भाषा का प्रयाग किए बिना ही समझााया जा सकता उसी प्रकार व्यवहार नय के बिना परामर्ष का उपदेश अस्म्भव है।

जैन धर्म में साधु साध्वी के लिए पंच महाब्रतों की तथा गृहस्थ श्रावक–श्रविकाओं के लिए पॉच अणुव्रतों की अवधारणा है। बौद्ध धर्म में भी पंचशील का प्रतिपादन हुआ है। जिनमें जैन धर्म के परम्परा से कुछ भिन्नता है। जैन परम्परा में जिन पॉच महाव्रतों का प्रतिपादन हुआ है। वे 1 पाइवाया वेरमणं प्रणातिपात से विरमण आहिंसा महाव्रत 2 मुसावाया वैरमथं मुषावा से विरमण– सत्य महाव्रत 3 आदिनादाणाओं वरैमंण अदतादान से विरतण अचौर्य महाव्रत 4 मेहुनाओं वेरमंण मैचुन सेवन से विरमण ब्रहम्चर्य महाव्रत 5 परिगहओं सेर मं परिग्रह से विरमण अपरहिग्रह महाव्रत। जैन दर्शन में वस्तु को सदसदात्मक स्वीकार किया गया है। जैन दर्शन में मान्य वस्तु का लक्षण ह्ण्उत्पादव्ययध्रौव्ययुत्त सत्ह्य सभी द्रव्यों या पदार्थों पर समान रूप से लागू होता है। जैनदर्शन में षड़द्रव्यात्मक लोक की जैसी मान्यता है वैसी कोई मान्यता बौद्ध दर्शन में दिखाई नहीं देती। बौद्ध दर्शन में शाश्वतता एवं आशाश्तता आदिप्रश्नों के संबंध में मौन हैं। आत्मा को स्वीकार करने पर शाश्वतवाद का तथा उसे न मानने पर उच्छेदवाद का आक्षेप आता है, जिसे टालने के लिए बुद्ध इस प्रकार के प्रश्नों पर मौन धारण करना उचित समझा। इसके विपरित भगवान महावीर ने शाश्वतता एवं आशाश्वतता का नय दृष्टि से समन्व्य स्थापित किया है जो जैन धर्म की व्यापक अनेकान्त दृष्टि का सूचक है ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन पॉच ज्ञानों का प्रतिपादन करते हुए ज्ञान को सविकल्पक निरूपि करता है तथा दर्शन को निर्विकल्पक रूप में स्थापित करते हुए उसे ज्ञान से पृथक प्रत्यय

के रूप में प्रतिष्ठित करता है जबकि बौद्ध दर्शन ज्ञान के ही निर्विकल्पक एवं सविकल्पक भेद अंगीकार करता है।

अचार मीमांसा की दृष्टि से देखे तो दोनो दर्शन सम्यग्दर्शनपूर्वक आचार को महत्व देते है किन्तु बौद्ध दर्शक आचार के परिपालन में कठोरता एवं शिथिलता के मध्य का मार्ग अपनाता है। वहॉ जैन दर्शन में ज्ञान पूर्वक आचरण की कठोरता पर बल प्रदान किया गया है। यही कारण है कि जैन साधु साध्वी आज भी आचार पालन की दृष्टि से अन्य धर्मों साधु एवं साध्वियों की अपेक्षा अग्रणी हैं। दोनों दर्शन का अध्ययन करने पर विदित होता है कि इनका पारस्परिक अध्ययन इन दर्शनों के हार्द को समझने में सहायक है। दोनों दर्शनों को अध्यात्मिक दृष्टि अत्यंत समद्ध है तथा मानवीय चरित्र को उन्नत बनाने में सहायक है दोनों धर्मो क्रोधादि, रागादि विकारों पर विजय को महत्व दिया गया है।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध आलेख विश्लेषाणात्मक एवं वर्णात्मक प्रकृति का है। शोध कार्य के लिए द्वितीयक स्त्रोतो का उपयोग किया गया है। इसके लिए मुख्यतः इन्टरनेट से प्राप्त सामग्रियों, प्रकाशित ग्रंथ, पत्र–पत्रिकाओं में छपे विवरण, निबंध एवं लेख तथा विभिन्न शोध–ग्रंथों को अध्ययन का आधार बनाया गया है।

निष्कर्ष

इस प्रकार दोनो ग्रन्थों के अध्ययन से स्पष्ट है कि बौद्ध और जैन दोनों परम्पराओं का कर्मवाद में विश्वास था। वास्तव में दोने की आधारशिला है। इसमें व्यक्ति के मन में उठनेवाले विचारों का वर्णन किया गया है। इसे आधुनिक वैज्ञानिक–शब्दावली में बौद्ध मनोविज्ञान तथा जैन–मनोविज्ञान कह सकते है। उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसा प्राणियों की विचित्रता का प्रधान कर्म है। प्राणी अच्छे यह बुरे कर्मों के कारण दुःख भोगता है। आत्मा के स्वरूप को भूल कर विभाव में परिणत करने लगता हे। जिससे वह पुनः नये कर्मों से संयुक्त

होता है। इस प्रकार प्राणी अनादिकाल से कर्म परम्परा में उलझा हुआ है। यहाँ यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि कर्मों का आत्मा के साथ संयुक्त होने के रूप बन्ध की प्रक्रिया में कर्म स्वतः प्रवृत्त होते है, वे कि ईश्वर की इच्छा से, जैसा कि हिन्दू–धर्म में माना गया है। बौद्ध धर्म के अनुसार भी संसार की विचित्रता सत्व के कर्मो के द्वारा उद्‌भूत है। इस विचित्रता का कर्ता किसी बुद्धिमान को मानना ठीक नहीं है क्योंकि अन्ततोगत्वा उस बुद्धिमान को विषमता को बचाने के लिए सत्वकृत कर्मों को मुख्य कारण मानना ही पड़ता है। सत्व जब अपने पुराने अर्जित कर्मो का फल होता है तो उस समय उसके चित्त में राग, दोष, मोह, रूप भाव होते है। इस प्रकार कर्म व कर्मफल ही धारा अनादिकाल से चली आ रही है। धम्मपद के अनुसार भी सत्व के कर्म तथा कर्मफल में ईश्वर को किसी भी रूप में कारण नहीं माना है। इस प्रकार बौद्ध धर्म में कर्म को मूलतः चेतना मानते है। तथा जैन परम्परा में कर्म के पौद्‌गालिक रूप पर जोर दिया जाता है तथा बौद्ध कर्म को किसी कर्ता का व्यापार नहीं स्वीकार करते थे। जब कि जैन–परम्परा में इसे जीव का व्यापार माना जाता था।

संदर्भ

1 यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धि से धर्मः। वैशेषिक सूत्र 1.1.2.

2 सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त।

3 उत्तराध्ययनसूत्र, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, अध्ययन 25 गा. 33

4 आदिपुराण, 38. 45

5 व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र आगम प्रकाशन समिति, व्यवार, शतक 12 उद्देशक 2, पृष्ठ 134

6 दीघनिकाय – 33 संगितिपरियासुत्त में चार प्रश्नव्याकरण ?